ISSN: 2456–4397 RNI No.UPBIL/2016/68067 Vol-5* Issue-5* August-2020
Anthology : The Research

श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित मानवधर्म

Humanism described in Srimad Bhagavad Gita

Paper Submission: 16/08/2020, Date of Acceptance: 27/08/2020, Date of Publication: 28/08/2020

गीता
शोधार्थी,
संस्कृत विभाग,
बाबा मस्तनाथ विश्वविद्यालय,
रोहतक, हरियाणा, भारत

सारांश

श्रीमद्भगवद्गीता एक सार्वभौम एवं सार्वजनीन ग्रन्थ है जिसकी शिक्षाएँ विश्व के समस्त मानवों के लिए हैं। यह अखण्डकोटि ब्रह्माण्डनायक, परात्पर, परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द का दिव्य सन्देश है। यह महाभारतरूपी रत्नमयी महामाला का प्रधान देदीप्यमान रत्न है। यह अनेक जन्मों से संसार–सागर में निमज्जन करने वाले कलियुग के प्राणियों के उद्धरण हेतु महानौका है। यह विश्व के समस्त प्राणियों की चिरन्तन शान्ति का अनुपम साधन एवं उपनिषद् साहित्य का सार संग्रह है –

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।[1]

Srimad Bhagavadgita is a universal and universal text whose teachings are for all human beings in the world. This is the divine message of Mukharvind of Akhandkoti Brahmandanayaka, Paratpar, Parbrahma, the Supreme Lord, Lord Krishna. It is the prime resplendent gem of the Mahabharatarupi Ratnamayi Mahamala. It is great for quoting the creatures of Kali Yuga who have been immersed in the world-ocean for many births. This is a unique tool for the eternal peace of all the creatures of the world and a summary of the Upanishads literature -

Sarvopanishado Gavo Dogdha Gopalanandan:
Partho Vatsah: Sudhirbhokta Milk Gitamritam Importance. [1]

मुख्य शब्द : श्रीमद्भगवद्गीता, मानवधर्म, नीतिशास्त्र या कर्तव्यशास्त्र, धर्म ।
Srimad Bhagavadgita, Anthropology, Ethics or Duty, Religion.

प्रस्तावना

गीता न केवल एक आध्यत्मिक ग्रन्थ है अपितु इसके साथ यह एक नीतिशास्त्र या कर्तव्यशास्त्र भी है। प्राचीनकाल से लेकर आज तक गीता का सर्वाधिक महत्व अपनी इसी विशेषता के कारण रहा है। गीता में विभिन्न विषयों के विवेचन के साथ मानव–जीवन के प्राणभूत तत्त्व धर्म का विशेष वर्णन प्राप्त होता है। सृष्टि के आरम्भ से ही जिस एक तत्त्व ने मानव–जीवन को सर्वाधिक प्रभावित किया है – वह है 'धर्म'। यह धर्म मानव की समग्र जीवन–पद्धति को आत्मसात् कर लेने की क्षमता से सम्पन्न है। धर्म शब्द का अभिप्राय उस विशिष्ट तत्त्व से है जो पदार्थ–विशेष में अनवरत् विद्यमान रहता है। जैसे–जल का गुण है–शीतल होना और स्वभाव है–बहना या प्रवाहित होना। वह उसका अपना धर्म है। जो मानव जाति के स्वभाव के अनुकूल व्यवस्था हो, वही धर्म है। मनुष्य का स्वभाव है–महत्वाकांक्षी या ऊर्ध्वगामी प्रकृति का होना तथा पाषविक वृत्तियों का परित्याग करके दैवीय वृत्तियों को ग्रहण करना या धारण करना और यही उसका धर्म है। वस्तुतः धर्म का भारतीय संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान है।

धर्म भारतीय संस्कृति का प्राणस्वरूप है। धर्म के बिना भारतीय संस्कृति की कल्पना आकशकुसुम के समान निरर्थक है। 'धर्म' शब्द व्याकरणिक दृष्टि से धृ धातु से मन् प्रत्यय लगाकर 'ध्रियते लोकोऽनेन', 'धरति लोकम्' आदि मन्तव्यों का बोधक है। जिसका अर्थ है–धारण करना। 'धर्म' एक धारक तत्त्व है, धारण करने के कारण ही इसे 'धर्म' कहते हैं। धर्म समस्त प्राणिमात्र को धारण या पालन करने वाला है–'धारणात् धर्मः इत्याहुः धर्मो धारयति प्रजाः।' महर्षि वेदव्यास का यह कथन यही उद्घोष कर रहा है। महर्षि कणाद के अनुसार जिससे अभ्युदय तथा निःश्रेयस की सिद्धि होती है, उसे धर्म कहते हैं–

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसंसिद्धिः स धर्मः।[2]

भारतीय संस्कृति में वर्णित पुरुषार्थ चतुष्टय का आधार ही धर्म है और धर्म ही समस्त मनुष्यों का प्राणियों से भेदक तत्त्व है। धर्म से हीन मनुष्य तो पशुतुल्य माने गये हैं–

धर्मो हि तेशामधिको विशेषो धर्मेण
हीनाः पशुभिः समानाः।।[3]

संस्कृत वाड्.मय में 'धर्म' शब्द अत्यन्त व्यापक और अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता चला आ रहा है। अथर्ववेद[4] में 'धर्म' शब्द 'धार्मिक–क्रिया संस्कार करने से अर्जित गुण' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण[5] में 'सकल धार्मिक कर्तव्यों के अर्थ में, जबकि छान्दोग्योपनिषद्[6] में आश्रम के विलक्षण कर्तव्यों के अर्थ में। गीता में स्व–धर्म, राष्ट्र–धर्म, वर्णाश्रम धर्म का ही समन्वित, मिश्रित और व्यापक रूप मानव–धर्म है। सूक्ष्म रूप से स्वधर्म ही मानव–धर्म का मूलाधार है। स्वधर्म के निर्वाह के बिना मानवधर्म की कल्पना असम्भव ही है। संसार में उत्पन्न हुए सभी मनुष्यों का स्वधर्म भी निश्चित है, तभी तो भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को स्वधर्म की रक्षा हेतु युद्ध करने के लिए प्रेरित करते हुए कहते हैं–

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।।[7]

स्वधर्म का पालन सभी परिस्थितियों में मानवमात्र के लिए हितकर है। स्वधर्म पालन में चाहे जय प्राप्त हो या पराजय, लाभ हो या हानि, सुख प्राप्त हो या दुःख परन्तु सभी कालों में वही व्यक्ति के उत्थान का हेतु है।[8] इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को रणक्षेत्र में युद्ध करने की शिक्षा देते हुए स्वधर्म पालन करने का आदेश देते हैं–

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यक्षत्रियस्य न विद्यते।।[9]

स्वधर्मपालन या स्वकर्तव्यपालन करते हुए भाग्यशाली क्षत्रिय अनायास ही स्वर्ग या मोक्ष प्राप्त करते हैं।[10] जो स्वधर्मपालन में तत्पर है, वही राष्ट्रभक्त और राष्ट्र का उन्नायक हो सकता है और राष्ट्रधर्म को पूर्णतः निभा सकता है। प्रत्येक प्राणिमात्र को अपना स्वीकार कर सकता है। गीता में स्वधर्म की रक्षा की बात कही गयी है। स्वधर्म में मरण भी अच्छा है किन्तु परधर्म स्वीकार्य नहीं है।[11] इसीलिए प्रत्येक परिस्थिति में भी भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं के लिए भी कर्तव्य कर्म करने के लिए कहते हैं।[12] स्वधर्म के सम्पादन से ही राष्ट्र का विकास पूर्णतया सम्भव है– स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।[13]

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में प्राणिमात्र के कर्तव्याकर्तव्य का उपदेश दिया है। इस गीताशास्त्र में प्रत्येक मनुष्य का अधिकार है, भले ही वह किसी भी सम्प्रदाय अथवा वर्ण का हो अथवा पापाचरण करने वाला ही क्यों न हो।[14] गीता में सूक्ष्मतः मानव धर्म की ही चर्चा हुई है। प्रत्येक मनुष्य समान है। उसका सृष्टि के समस्त पदार्थो पर समानाधिकार है। उनमें परमात्मा का समान अंश है। भगवान् श्रीकृष्ण इसी ओर संकेत करते हैं कि जिस परमात्मा से सभी प्राणियों की उत्पत्ति हुई तथा जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। उस परमेश्वर को अपने स्वाभाविक कर्म द्वारा पूजकर मनुष्य परम कल्याण को प्राप्त होता है।[15] अतएव संसार में उत्पन्न सभी मनुष्यों का 'स्वधर्म' भी निश्चित है। प्रकृति के अनुसार शास्त्रोक्त विधि से नियत किये हुए जो वर्णाश्रम के धर्म और सामान्य धर्मरूप स्वाभाविक कर्म हैं, उनको ही गीता में स्वधर्म, सहजकर्म, स्वकर्म, नियतकर्म और स्वभावनियत कर्म इत्यादि अनेक संज्ञाओं से अभिहित किया गया है।

गीता में अर्जुन को दिया गया भगवान् का अपने कर्म के प्रति सजग रहते हुए उसको करने का यह उपदेष एक उपलक्षण मात्र है।[16] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि संसार के सम्पूर्ण मानव अपने–अपने शास्त्रोक्त विधि से किये गये निश्चित कर्म को करने लगें तो संसार से भ्रष्टाचार, व्यभिचार, चोरी, हत्या आदि समस्त बुराईयाँ स्वतः ही समूल नष्ट हो जायेंगी। व्यक्ति से लेकर सम्पूर्ण संसार के कल्याण का मार्ग स्वयमेव प्रशस्त हो जायेगा। अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण कर्मबन्धन का नाश हो जायेगा।

गीता में वर्णित सभी वर्णों का कार्य विभाजन गुण और कर्म के आधार पर करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि–

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।[17]

और भी–

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।।[18]

वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थिति की अपेक्षा से जिस मनुष्य के लिए जो कर्म शास्त्रों में नियत कर दिये गये हैं, वहीं उसके स्वधर्म हैं। चारों वर्णों के सदस्य को अपने वर्ण के लिए गुण और कर्म पर अधारित एवं निर्धारित कार्य का फलेच्छा से रहित होकर पालन करना आवश्यक है अन्यथा वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जायेगा। वस्तुतः गतिशील सृष्टिचक्र में एक व्यक्ति भी कर्तव्यच्युत है, तो सम्पूर्ण राष्ट्र पर विपरीत प्रभाव पड़ता हुआ विकास अवरुद्ध होता है।

अतः चतुर्वर्णों के द्वारा स्वधर्मज्ञानाश्रित कर्म निष्ठापूर्वक करने पर स्वधर्म और राष्ट्रधर्म पूर्ण होते हैं और इसी से राष्ट्र का कल्याण होता है। इसी से एक उन्नत और समृद्धिशाली राष्ट्र का निर्माण होता है। गीता कहती है कि एक विवेकशील पुरुष विश्व के प्राणिमात्र, भूतमात्र, चेतन और अचेतन में अद्वेष्टा होता है, वह समदर्शी होता है और अद्वेष्टा और समदर्शी पुरुष चेतन और अचेतन जगत् में परमात्मा का दर्शन करते हुए मानवधर्म का निर्वाह करता है। उसके लिए अपना–पराया कोई नहीं होता। वह परमात्मा द्वारा निर्मित आकीट पंतग सम्पूर्ण सृष्टि को परस्पराश्रित और एक इकाई मानते हुए स्वधर्म और मानवधर्म का परमात्म–स्मरण पूर्वक पालन करता है।[19] भगवान् स्वयं गीता के माध्यम से मानवमात्र को सम्पूर्ण चेतन–अचेतन के प्रति प्रेम करना सिखाते हैं–

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।[20]

अध्ययन का उद्देश्य

इस शोध करके आधुनिक युग का मानव अंधकार अंधविश्वास अहंकार तथा आतंकवाद आदि अनेक दोषो से बचकर मानव धर्म का पालन कर सकता है।

निष्कर्ष

इस प्रकार वस्तुतः वर्णाश्रमधर्म, स्वधर्म, राष्ट्रधर्म का एकमात्र उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखना है, जिससे निर्विघ्न रूप से लोककल्याण होता रहे। यह सामाजिक व्यवस्था का मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक आधार है। इस ईश्वरीय व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति का मानव समाज के प्रति कुछ कर्तव्य है, जिनको सम्पादित करना उसके लिए आवश्यक है। गीता यह स्वीकार करती है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्थान है और

उस स्थान के अनुसार उसका कर्तव्य है जिसका सम्पादन उसके अपने हित में भी है और समाज के हित में भी है और वस्तुतः धर्म की शिक्षा का अधिकारी भी मानव ही है। गीता का अध्ययन करने से यह बात सामने आती है कि गीता और मानव–धर्म परस्पर पर्याय हैं। जो गीता में लिखा है, वही मानव–धर्म है, वही स्वधर्म है और जो स्वधर्म है वही मानव–धर्म है। मानवता की मानव का धर्म है। गीता का यही सिद्धांत 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उद्घोष करता है। सम्पूर्ण पृथिवी ही हमारा घर और सम्पूर्ण पृथिवी ही हमारा देश है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. *महाभारत, भीष्मपर्व, गीतामाहात्म्य, 43/2*
2. *वैशेषिक सूत्र, 1.1.2*
3. *हितोप्रदेश, मित्रलाभ, प्रस्तावना, 25*
4. *अथर्ववेद, 11.7.17*
5. *ऐतरेय ब्राह्मण, 7/17*
6. *छान्दोग्योपनिषद्, 2/23*
7. *श्रीमद्भगवद्गीता, 2/33*
8. *तदेव, 2/38*
9. *तदेव, 2/31*
10. *तदेव, 2/32*
11. *तदेव, 3/35*
12. *तदेव, 3/24*
13. *तदेव, 18/45, पूर्वार्द्ध*
14. *तदेव, 9/32*
15. *तदेव, 18/46*
16. *तदेव, 18/48*
17. *तदेव, 4/13, पूर्वार्द्ध*
18. *तदेव, 18/41, उत्तरार्द्ध*
19. *तदेव, 5.19–21*
20. *तदेव, 6/32*